जैन दर्शन में बन्ध और मोक्ष

प्रोफेसर अशोक कुमार

जैन दर्शन मुख्यतः एक आचारवादी दर्शन है। इसकी मुख्य समस्या बन्धन और मोक्ष की समस्या है। अस्तित्ववादियों की तरह यह भी दुःख-बोध से प्रारम्भ होता है। इसके अनुसार वर्तमान जीवन बन्धन का जीवन है और इसका चिह्न है—दुःख की अनुभूति। भगवान् महावीर के अनुसार, 'जन्म दुःख है, जरा दुःख है, रोग दुःख है, मृत्यु दुःख है', सारा संसार ही दुःखमय है जिसमें व्यक्ति फंसा है।

जम्मं दुक्खं, जरा दुक्खं, रोगाणि, मरणाणिय।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो।।[1]

महावीर मानते हैं कि अपने स्वभाव में नहीं होना ही बन्धन है, और स्वभाव में लौट आना ही मुक्ति है। दुःख का अनुभव हमारे विभाव में होने का परिचायक है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा स्वभावतः 'अनन्त-चतुष्टय' युक्त है। उसमें अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द है। लेकिन हमारी वर्तमान अवस्था ऐसी नहीं है। वर्तमान अवस्था में हम दुःखी, निर्बल, अज्ञानी और मूर्च्छित हैं। इससे स्पष्ट है कि हमारी आत्मा अपनी स्वाभाविक शक्तियों की अभिव्यक्ति में सक्षम नहीं है। उसका कारण यह है कि आत्मा का पुद्गल के साथ संयोग हो गया है। उसकी शक्तियों को पुद्गल ने आवृत्त कर रक्खा है, जैसे—सूर्य का प्रकाश बादलों से ढंक जाता है। अतः आत्मा के साथ पुद्गल का संयोग ही बन्धन है। इस संयोग के कारण आत्मा अपना स्वरूप खो देती है और पुद्गल को ही अपना मान बैठती है। फलस्वरूप पुद्गल के गुण-धर्म को वह अपना गुण-धर्म समझ लेती है और इसी कारण बन्धन उत्पन्न होता है। पुद्गल वह है जो प्रक्रिया में है (पूरयन्ति गलन्ति च) और जहां प्रक्रिया है वहां बेचैनी और दुःख है। आत्मा प्रक्रियातीत है। उस तल पर अनन्त शान्ति और आनन्द है, लेकिन पुद्गल के साथ तादात्म्य हो जाने के कारण उसकी स्वाभाविक शक्तियां ढंक जाती हैं, यद्यपि नष्ट नहीं होतीं। अतएव आत्मा में मुक्ति या स्वभाव लाभ की संभावना सदा बनी रहती है।

प्रश्न है कि बन्धन क्यों होता है? इसके उत्तर में जैन दर्शन का मत है कि अज्ञान की स्थिति में ममत्व के कारण कर्म करने से पुद्गल का संग्रह होता है जो आत्मा से संयोजित होकर उसे आवृत्त कर लेता है। अज्ञान या मूर्च्छा की स्थिति में स्वरूप-बोध नष्ट हो जाता है और 'पर' की कामना एवं 'पर' के साथ तादात्म्य होने लगता है। व्यक्ति जैसी कामना करता है, उसी के अनुरूप पुद्गलों का आस्रव उसकी ओर होने लगता है जो अन्ततोगत्वा आत्मा को बिल्कुल ढंक लेता है। इस कारण भगवान् महावीर ने कहा है कि 'मूर्च्छा ही परिग्रह है।' **मूर्च्छा परिग्रहः**[2] वही बन्धन का कारण है। अज्ञान की स्थिति में किया गया कर्म जीव में कषाय की उत्पत्ति करता है। कषाय आत्मा के कल्मष हैं। वे आत्मा की वे प्रवृत्तियां हैं जो पुद्गल-कणों को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। क्रोध, लोभ, मान और माया ये चार कषाय हैं। जो आत्मा को बन्धन में डालती हैं। जैसे—तेल से भीगा कपड़ा धूलि कणों को अपनी ओर आकृष्ट करता है, उसी प्रकार कषाययुक्त आत्मा पुद्गल कणों को अपनी ओर आकृष्ट करती है, और इस प्रकार पुद्गल का संयोग आत्मा के साथ हो जाता है।

जैन दर्शन के अनुसार बन्धन के दो स्तर हैं—(१) भावबन्ध और (२) द्रव्यबन्ध। बन्धन का आरम्भ पहले भाव के स्तर पर होता है और तब वास्तव में आत्मा और देह का संयोग हो जाता है। पहले आत्मा में अज्ञान या मूर्च्छा के कारण किसी वस्तु के लिए आसक्ति जागती है या भोग-लालसा का उदय होता है, जिससे जीव का आकर्षण भौतिक पदार्थ की ओर होने लगता है और तब पुद्गल कणों का आस्रव जीव की कामना के अनुरूप उसकी ओर होने लगता है, जिससे विभिन्न प्रकार के अंगोपांगों का विकास होता है। व्यक्ति जीवन में जो कुछ

१. उत्तराध्ययन सूत्र, १९/१६
२. तत्वार्थ सूत्र, ७/१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी पाता है, वह सब उसके कर्मों का ही परिणाम है। उसकी सभी शारीरिक और मानसिक क्षमताएं जीव की प्रवृत्ति के अनुरूप होती हैं। इस कारण जैन दर्शन में कई प्रकार के कर्मों की चर्चा है। जैसे—नामकर्म, गोत्रकर्म, आयुकर्म, मोहनीयकर्म, वेदनीयकर्म, ज्ञानावरणीय कर्म इत्यादि। व्यक्ति जो शरीर प्राप्त करता है या उसकी जो शारीरिक और मानसिक क्षमताएं होती हैं, वे उसके कर्म के परिणाम हैं। व्यक्ति की आयु उसके 'आयुकर्म' द्वारा निर्धारित होती है। उसका गोत्र उसके 'गोत्रकर्म' से निर्धारित है। 'ज्ञानावरणीय' कर्म से उसका ज्ञान ढंक जाता है। 'दर्शनावरणीय' कर्म से उसका दर्शन आवृत्त हो जाता है। 'मोहनीयकर्म' से उसमें मोह उत्पन्न होता है और 'वेदनीयकर्म' से उसमें सुख-दुःख की वेदना होती है। इस प्रकार जीवन में जो कुछ भी घटता है, वह जीवन के अपने कर्मों का ही परिणाम है। महावीर कार्य-कारण के सार्वभौम सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। अतः वे मानते हैं कि व्यक्ति के जीवन में जो भी होता है, वह आकस्मिक या संयोगवश नहीं, वरन् व्यक्ति के पूर्व कर्मों का परिणाम है। अतएव कर्म ही बन्धन का कारण है। भाव-बंध की अवस्था में केवल भावना के स्तर पर बन्धन होता है, जबकि द्रव्य-बन्ध की स्थिति में वास्तव में पुद्गल का संयोग आत्मा के साथ हो जाता है। सांख्य, वेदान्त आदि केवल भाव-बन्ध को मानते हैं। उनके अनुसार द्रव्य-बन्ध नहीं होता। आत्मा कभी वास्तव में बन्धन में पड़ती ही नहीं है, क्योंकि स्वभाव से वह शुद्ध, बुद्ध और मुक्त या सच्चिदानन्द है। परन्तु जैन दर्शन मुक्ति के सम्बन्ध में वस्तुवादी दृष्टिकोण अपनाता है। इस कारण यह मानता है कि वास्तव में आत्मा और पुद्गल का संयोग हो जाता है।

जैन दर्शन बन्धन के चार आयाम मानता है। प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध। आत्मा की ओर कौन-कौन प्रकार के पुद्गल कण आकृष्ट होंगे, उसे 'प्रकृति बन्ध' कहा जाता है। फिर ये पुद्गल कण आत्मा के किस प्रदेश में संयोगित होंगे, इसे 'प्रदेश बन्ध' कहते हैं। साथ ही साथ, पुद्गल कणों का संयोग आत्मा के साथ कितने समय तक होगा इसे 'स्थिति बन्ध' और पुद्गल कणों का आत्मा पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे 'अनुभाग बन्ध' कहते हैं। प्रकृति बंध, प्रदेश बन्ध तथा स्थिति बन्ध का निर्धारण 'कषाय' के द्वारा होता है और अनुभाग बन्ध का निर्धारण 'योग' द्वारा होता है। 'कषाय' चित्त की वृत्तियां हैं और 'योग' जोड़ने की आत्मा का क्षमता। कषाय के कारण विशेष प्रकार के पुद्गल कणों का आस्रव आत्मा की ओर होता है और वे आत्मा के विभिन्न प्रदेशों में संगठित होते हैं तथा एक समय-विशेष के लिए उनकी स्थिति रहती है। ये पुद्गल-कण आत्मा के योग के कारण संगठित हो जाते हैं और इस प्रकार विभिन्न आकृतियों और क्षमताओं वाले देह का निर्माण होता है और भौतिक वातावरण प्राप्त होता है। इस प्रकार पुद्गल के जाल में आत्मा फंस जाती है (स कषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान्पु द्गलानादत्ते स बन्धः)।[1]

मोक्ष विचार—चूंकि पुद्गल का आत्मा को ढंक लेना बन्धन है, अतः पुद्गल का आत्मा से अलग होना मोक्ष है इसलिए दो प्रक्रियाएं आवश्यक हैं—'संवर' और 'निर्जरा'। पुद्गल कणों का आस्रव बराबर आत्मा की ओर होता रहता है तथा कुछ पुद्गल-कण स्थायी रूप से संयुक्त हो गये हैं, अतः आत्मा को परिष्कृत करने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—पहली यह कि जिन पुद्गल कणों का आस्रव आत्मा की ओर हो रहा है उसे रोक देना, यह 'संवर' है। दूसरे, जो पुद्गल-कण पहले से आत्मा से संयुक्त हो चुके हैं, उन्हें हटाना इसे, 'निर्जरा' कहते हैं। इन दो प्रक्रियाओं से आत्मा रूपी मणि से पुद्गल रूपी रज कणों को झाड़-पोंछकर अलग किया जा सकता है, जिससे आत्मा की मणि पुनः चमकने लगती है और वह अपनी खोयी शक्तियां—अनन्त चतुष्टय—पुनः उपलब्ध कर लेती है। मोक्ष की स्थिति अनन्त दर्शन, ज्ञान, वीर्य और आनन्द की स्थिति है। यह बुद्ध के 'निर्वाण' की भांति निषेधात्मक नहीं, वरन् भावात्मक है।

संवर और निर्जरा के लिए तीन मार्ग बताये गये हैं जिन्हें जैन दर्शन में 'त्रिरत्न' की संज्ञा दी गई है। वे हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र।

सम्यक् दर्शन—हमारे भीतर जो कुछ भी हो रहा है उसके तटस्थ दर्शन को सम्यक् दर्शन कहा जाता है। इस तटस्थ दर्शन से व्यक्ति जो कुछ भी हो रहा है उससे मुक्त हो आत्म-स्थित हो जाता है। कुछ लोग मानते हैं कि सम्यक् दर्शन का अर्थ तीर्थंकरों के वचन में आस्था है। भगवान् महावीर के अनुसार "जिसमें स्वयं ज्ञान है, उसे आस्था की आवश्यकता नहीं है,"[2] किन्तु जो अज्ञानी है, उसके लिए आस्था भी मार्ग है। फिर भी भगवान् का जोर स्वयं में ज्ञान के जागरण पर ही है,[3] क्योंकि उन्होंने अंधानुकरण का विरोध किया—**णो लोगस्स सेषणं चरे**। जो कुछ हो, सम्यक् दर्शन बोधयुक्त आस्था है, अंध-विश्वास नहीं। जैन दार्शनिक मणिभद्र ने कहा है—'न मेरा महावीर के लिए कोई पक्षपात है, न कपिल के लिए कोई द्वेष। युक्तियुक्त वचन ही मुझे ग्राह्य हैं, चाहे वे किसी के हों।

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः।

---

१. तत्वार्थ सूत्र, ८/२
२. 'उद्देसो पासगस्स नत्थि।', आचारांग सूत्र, २/३
३. 'संपिक्खए अप्पगमप्पएण।', दशवैकालिक सूत्र चूलिका, २/१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **सम्यक् ज्ञान**—बाहर से जो कुछ भी हो रहा हो, उसके पूर्ण ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहते हैं। बाह्य के प्रति तटस्थ दर्शन हमें उनके सारतत्व का बोध करा देता है। इस प्रकार भीतर और बाहर के प्रति मौन-सजगता से मूर्च्छा टूटती है, जड़ता मिटती है और आत्म-चेतना जाग्रत होती है। जिससे पुराने संस्कारों का क्षय हो जाता है। अतः व्यक्ति 'निर्ग्रन्थ' होकर अपने स्वरूप में चला आता है।

३. **सम्यक् चारित्र**—मात्र दर्शन और ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, वरन् इसे व्यवहार में ढालना भी आवश्यक है। सम्यक् चारित्र सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन का आवश्यक परिणाम है क्योंकि चारित्र ज्ञान का अनुगमन करता है। सुकरात ने कहा था, 'ज्ञान ही सद्गुण हैं' और महावीर ने भी कहा,'पहले ज्ञान है, तब क्षमा' **पढमं णाणं तओ दया**। अहित कार्यों का वर्जन एवं हित कार्यों का साधन 'सम्यक् चारित्र' है। सम्यक् चारित्र कोई कर्मकाण्ड नहीं, वरन् एक जीवन शैली है जो सम्यक् दर्शन और ज्ञान से अनुप्राणित है। यह एक समत्व और संतुलन का जीवन है—**समयाये समणो होई**।[1] सम्यक् चारित्र 'पंच महाव्रत' में अभिव्यक्त होता है, वे हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

१. **अहिंसा**—प्रमादवश दूसरों को कष्ट देना हिंसा है और अप्रमत्त होकर सब में प्रेम करना एवं किसी को मन, वचन और कर्म से कष्ट नहीं देना अहिंसा है। भगवान् महावीर के अनुसार, सभी प्राणी जीना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता, अतः प्राणी-वध का परित्याग करना चाहिए। अहिंसा की धारणा स्वाइत्जर के 'रेवरेंस ऑव लाइफ' की धारणा के अनुकूल है। यह असभ्य लोगों की जीवन के प्रति आतंकित दृष्टि नहीं जैसा कि मैकेन्जी ने माना था। महावीर मानते हैं कि वनस्पति से लेकर 'केवली' तक सभी सजीव हैं, सभी की आत्मा बराबर है, अतः सबको समान आदर मिलना चाहिए। दूसरी बात यह कि ज्ञान की स्थिति में सबके साथ रक्त-सम्बन्ध सा हो जाता है। सभी अपने से हो जाते हैं, अतः ज्ञानी किसी का अहित कर ही नहीं सकता। अहिंसा का आधार समानता और पारस्परिक सहानुभूति है, क्योंकि भगवान् महावीर ने कहा है कि "हमें दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा हम दूसरों से अपने प्रति चाहते हैं।"[2] यदि कोई स्वयं दुःख पसन्द नहीं करता है, तो उसे दूसरों को भी दुःखी नहीं करना चाहिए। आत्मा ही उचित-अनुचित की परख की आधार-शिला है।

२. **सत्य**—जो जैसा है, उसका उसी रूप में कथन करना सत्य है। जैन दर्शन 'अनेकान्त' में विश्वास करता है। इसके अनुसार, सत्य के अनन्त पहलू हैं—**अनन्तधर्मकं वस्तु**, फलस्वरूप "ऐसा ही है," नहीं कहा जा सकता, वरन् "ऐसा भी है" कहना अधिक उचित है। अतः निश्चयात्मक वाणी का प्रयोग नहीं करना चाहिए। वह भी हिंसा का कारण हो सकता है। अतएव 'सत्य' के साथ 'शील' जुड़ा हुआ है। फलस्वरूप जैन दर्शन भी **सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियं** में विश्वास करता है।

३. **अस्तेय**—'स्तेय' का अर्थ है—'चौर्य'। अस्तेय इसके विपरीत है अर्थात् किसी की वस्तु को बिना उसकी आज्ञा के नहीं लेना चाहिए (अदत्ता दानं स्तेयम्)।[3] जैन दर्शन मानता है कि संसार में जीवन-यापन के लिए धन आवश्यक है। सांसारिक दृष्टि से धन जीवन का दूसरा रूप है। अतः किसी की वस्तु का अपहरण नहीं करना चाहिए। मार्क्स की तरह महावीर भी मानते हैं कि धन का सम्यक् विभाजन होना चाहिए। अतः उन्होंने कहा है कि जो धन का सम्यक् विभाजन नहीं करते, वे मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते हैं (असंविभागी नहु तस्स मोक्खो)।[4]

४. **ब्रह्मचर्य**—इन्द्रियों का संयम ब्रह्मचर्य है (मैथुनं ब्रह्म)।[5] जैन दर्शन आत्म-संयम और इन्द्रिय-निग्रह पर जोर देता है। उसके अनुसार, आत्म-संयम व्यक्तिगत और सामाजिक उत्थान के लिए आवश्यक है। ज्ञान की स्थिति में 'अहंचर्य' मिट जाता है और 'ब्रह्मचर्य' की उपलब्धि होती है। ब्रह्मचर्य की स्थिति में व्यक्ति 'सृष्ट' न रहकर 'स्रष्टा' हो जाता है और उसका दृष्टिकोण विशाल और जीवन-व्यापी हो जाता है, जिसमें सर्वकल्याण की भावना निहित होती है।

४. **अपरिग्रह**—आवश्यकता से अधिक न लेना 'अपरिग्रह' है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को इच्छाओं में परिमितता बरतनी चाहिए, क्योंकि तृष्णा दुष्पूर है—**दुप्पू अए इमें आया**। इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं। क्योंकि वे कभी पूरी होने वाली नहीं हैं। ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है।[6]

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, २५/३२
२. आचारांग सूत्र, १/३/३
३. तत्वार्थ सूत्र, ७/१५
४. दशवैकालिक सूत्र, ६/२/२२
५. तत्वार्थ सूत्र, ७/१६
६. 'जहा लाहो तहा लोहो।
लाहो लोहो पवड्ढई ॥', उत्तराध्ययन सूत्र, ८/१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः व्यक्ति को इच्छाओं पर संयम रखना चाहिए और उतना ही लेना चाहिए जितना जीवन-रक्षा हेतु आवश्यक हो। भगवान् महावीर ने माना है कि 'जैसे भौंरा फूल के सौन्दर्य को नष्ट किये बिना केवल आवश्यकता भर मधु ले लेता है और कोई संचय नहीं करता, वैसे ही व्यक्ति को जीवन-यापन करना चाहिए।'[1]

इस प्रकार जैन दर्शन ईश्वरवादी परिप्रेक्ष्य से हटकर मात्र आत्मावादी परिप्रेक्ष्य में बन्धन और मोक्ष की व्याख्या करता है। इसके अनुसार मनुष्य अपने चलते बन्धन में है, इसलिए अपने प्रयत्न से ही मुक्त हो सकता है।[2]

स्वयं पर विजय पाना ही असली विजय है—**सव्वमप्पे जिए जियं।**[3]

कर्मों के पूर्ण विनाश को ही **मुक्ति** कहते हैं और वही शुद्धात्मा का स्वरूप वीतराग अवस्था है—**स आत्यन्तिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्ष इत्युच्यते (तत्त्वार्थराजवार्त्तिक,** १/१/३७)। कर्मों का निर्मूल नाश करने के लिए दो प्रयत्न हैं—कर्मास्रव का निरोध तथा निर्जरा। कर्मों का समूल नाश करने के लिए मुमुक्षु जीव को सर्वप्रथम मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग के स्रोतों से बंधने वाले नवागन्तुक कर्मों को रोकना चाहिए, तदनन्तर पूर्व बद्ध-कर्मों को तपस्या आदि के द्वारा नष्ट करना चाहिए। इनमें से प्रथम प्रयत्न को **संवर** तथा द्वितीय को **निर्जरा** कहते हैं। इस प्रकार आत्मा और (कर्म के) बंध का पृथक्करण ही **मोक्ष** कहा जाता है—

आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्षः, (समयसार, २८८)

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पांच **आस्रवबंध** के हेतु **मोह** के कारण माने गए हैं। मोह **मिथ्यात्व** का बलिष्ठ हेतु है, इसी के कारण जीवात्मा चारों गतियों तथा सातों नरकों में सदैव भ्रमण करता है। जहां मिथ्यात्व है, वहां अविरति, प्रमाद, कषाय और योग भी हैं। इन पांचों के माध्यम से आत्मा कर्मास्रव के द्वारा **बन्ध में** पड़ जाता है।

तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं, इससे विपरीत अश्रद्धान **मिथ्यात्व** कहलाता है। यह दो प्रकार का है—नैसर्गिक तथा गृहीत। छः कायिक जीवों की हिंसा का त्याग न करना पाँचों इन्द्रियों तथा मन को विषयासक्ति से न रोकना **अविरति** है। शुभ कार्यों में आलस्य करना **प्रमाद** कहलाता है। भोजन, स्त्री, देश तथा राज—ये चार कथाए; क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय; पांचों इन्द्रियां, निद्रा और स्नेह ये पन्द्रह **प्रमाद** हैं। सोलह तथा नौ कषाय—ये पच्चीस **कषाय** हैं। चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग—ये पन्द्रह **योग** हैं। ये सब मिलकर अलग-अलग आत्मा के बंध के कारण हैं। यदि आत्मा अपने निर्विकल्प स्वरूप के विपरीत उपर्युक्त पांचों आस्रवों से पराङ्मुख होकर स्वस्वरूप में निमग्न हो जाए तो अबंध (मोक्ष) का कारण होकर अखण्ड सुख का स्वामी बन सकता है।

(आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज कृत उपदेशसारसंग्रह, भाग ४, दिल्ली, वी० नि० सं० २४८४ से उद्धृत)

---

१. 'जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरी आवियई रसं। न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं।', दशवैकालिक सूत्र, १/२

२. 'बंधप्प मोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव', आचारांग सूत्र, १/५/२

३. उत्तराध्ययन सूत्र, ९/३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org